□ डॉ० नरेन्द्र भानावत, एम० ए०, पी-एच० डी०
(प्राध्यापक हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर एवं
मानद निदेशक—आचार्य श्री विनयचन्द्र शोध प्रतिष्ठान जयपुर)

जैनधर्म का सांस्कृतिक मूल्यांकन

□

धर्म और संस्कृति :

संकीर्ण अर्थ में धर्म संस्कृति का जनक और पोषक है। व्यापक अर्थ में धर्म संस्कृति का एक अंग है। धर्म के सांस्कृतिक मूल्यांकन का अर्थ यह हुआ कि किसी धर्म विशेष ने मानव-संस्कृति के अभ्युदय और विकास में कहाँ तक योग दिया ? संस्कृति जन का मस्तिष्क है और धर्म जन का हृदय। जब-जब संस्कृति ने कठोर रूप धारण किया, हिंसा का पथ अपनाया, अपने रूप को भयावह व विकृत बनाने का प्रयत्न किया, तब-तब धर्म ने उसे हृदय का प्यार लुटा कर कोमल बनाया अहिंसा और करुणा की बरसात कर उसके रक्तानुरंजित पथ को शीतल और अमृतमय बनाया, संयम, तप और सदाचार से उसके जीवन को सौन्दर्य और शक्ति का वरदान दिया। मनुष्य की मूल समस्या है—आनन्द की खोज। यह आनन्द तब तक नहीं मिल सकता जब तक कि मनुष्य भयमुक्त न हो, आतंकमुक्त न हो, इस भय-मुक्ति के लिए दो शर्तें आवश्यक हैं। प्रथम तो यह कि मनुष्य अपने जीवन को इतना शीलवान, सदाचारी और निर्मल बनाए कि कोई उससे न डरे। द्वितीय यह कि वह अपने में इतना पुरुषार्थ, सामर्थ्य और बल संचित करे कि कोई उसे डरा धमका न सके। प्रथम शर्त को धर्म पूर्ण करता है और दूसरी को संस्कृति।

जैनधर्म और मानव-संस्कृति :

जैनधर्म ने मानव संस्कृति को नवीन रूप ही नहीं दिया, उसके अमूर्त भाव तत्व को प्रकट करने के लिए सभ्यता का विस्तार भी किया। प्रथम तीर्थंकर—ऋषभदेव इस मानव-संस्कृति के सूत्रधार बने। उनके पूर्व युगलियों का जीवन था, भोगमूलक दृष्टि की प्रधानता थी, कल्पवृक्षों के आधार पर जीवन चलता था। कर्म और कर्त्तव्य की भावना सुषुप्त थी। लोग न खेती करते थे न व्यवसाय। उनमें सामाजिक चेतना और लोक-दायित्व की भावना के अंकुर नहीं फूटे थे। भगवान् ऋषभदेव ने भोगमूलक संस्कृति के स्थान पर कर्ममूलक संस्कृति की प्रतिष्ठा की। पेड़-पौधों पर निर्भर रहने वाले लोगों को खेती करना बताया। आत्मशक्ति से अनभिज्ञ रहने वाले लोगों को अक्षर और लिपि का ज्ञान देकर पुरुषार्थी बनाया। देववाद के स्थान पर पुरुषार्थवाद की मान्यता को सम्पुष्ट किया। अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लड़ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिए हाथों में बल दिया। जड़ संस्कृति को कर्म की गति दी, चेतनाशून्य जीवन को सामाजिकता का बोध और सामूहिकता का स्वर दिया। पारिवारिक जीवन को मजबूत बनाया, विवाह प्रथा का समारम्भ किया। कला-कौशल और उद्योग-धन्धों की व्यवस्था कर निष्क्रिय जीवन-यापन की प्रणाली को सक्रिय और सक्षम बनाया।

संस्कृति का परिष्कार और महावीर :

अन्तिम तीर्थंकर महावीर तक आते-आते इस संस्कृति में कई परिवर्तन हुए। संस्कृति के विशाल सागर में विभिन्न विचारधाराओं का मिलन हुआ। पर महावीर के समय इस सांस्कृतिक मिलन का कुत्सित और बीभत्स रूप ही सामने आया। संस्कृति का जो निर्मल और लोककल्याणकारी रूप था, वह अब विकारग्रस्त होकर चन्द व्यक्तियों की ही सम्पत्ति बन गया। धर्म के नाम पर क्रियाकाण्ड का प्रचार बढ़ा। यज्ञ के नाम पर मूक पशुओं की बलि दी जाने लगी। अश्वमेध ही नहीं, नरमेध भी होने लगे। वर्णाश्रम व्यवस्था में कई विकृतियाँ आ गईं। स्त्री और शूद्र अधम तथा निम्न समझे जाने लगे। उनको आत्म-चिन्तन और सामाजिक-प्रतिष्ठा का कोई अधिकार न रहा। त्यागी-तपस्वी समझे जाने वाले लोग अब लाखों करोड़ों की सम्पत्ति के मालिक बन बैठे। संयम का गला घोंटकर भोग और ऐश्वर्य किलकारियाँ मारने लगा। एक प्रकार का सांस्कृतिक संकट उपस्थित हो गया। इससे मानवता को उबारना आवश्यक था।

वर्द्धमान महावीर ने संवेदनशील व्यक्ति की भाँति इस गम्भीर स्थिति का अनुशीलन और परीक्षण किया। बारह वर्षों की कठोर साधना के बाद वे मानवता को इस संकट से उबारने के लिए अमृत ले आये। उन्होंने घोषणा की—सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। यज्ञ के नाम पर की गई हिंसा अधर्म है। सच्चा यज्ञ आत्मा को पवित्र बनाने में है। इसके लिए क्रोध की बलि दीजिए, मान को मारिये, माया को काटिये और लोभ का उन्मूलन कीजिये। महावीर ने प्राणी-मात्र की रक्षा करने का उद्‌बोधन दिया। धर्म के इस अहिंसामय रूप ने संस्कृति को अत्यन्त सूक्ष्म और विस्तृत बना दिया। उसे जनरक्षा (मानव-समुदाय) तक सीमित न रख कर समस्त प्राणियों की सुरक्षा का भार भी संभलवा दिया। यह जनतंत्र से भी आगे प्राणतंत्र की व्यवस्था का सुन्दर उदाहरण है।

जैन धर्म ने सांस्कृतिक विषमता के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द की, वर्णाश्रम व्यवस्था की विकृति का शुद्धिकरण किया। जन्म के आधार पर उच्चता और नीचता का निर्णय करने वाले ठेकेदारों को मुँह-तोड़ जवाब दिया। कर्म के आधार पर ही व्यक्तित्व की पहचान की। हरिकेश चाण्डाल और सद्दालपुत्र कुम्भकार को भी आचरण की पवित्रता के कारण आत्म-साधकों में समुचित स्थान दिया।

अपमानित और अचल सम्पत्तिवत् मानी जाने वाली नारी के प्रति आत्म-सम्मान और गौरव की भावना जगाई। उसे धर्म ग्रंथों को पढ़ने का ही अधिकार नहीं दिया वरन् आत्मा के चरम-विकास मोक्ष की भी अधिकारिणी माना। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार इस युग में सर्वप्रथम मोक्ष जाने वाली ऋषभ की माता मरूदेवी ही थी। नारी को अबला और शक्तिहीन नहीं समझा गया। उसकी आत्मा में भी उतनी ही शक्ति सम्भाव्य मानी गई जितनी पुरुष में। महावीर ने चन्दनबाला की इसी शक्ति को पहचान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर उसे साध्वियों का नेतृत्व प्रदान किया। नारी को दब्बू, आत्मभीरु और साधना क्षेत्र में बाधक नहीं माना गया। उसे साधना में पतित पुरुष को उपदेश देकर संयम-पथ पर लाने वाली प्रेरक शक्ति के रूप में देखा गया। राजुल ने संयम से पतित रथनेमि को उद्‌बोधन देकर अपनी आत्मशक्ति का ही परिचय नहीं दिया, वरन् तत्वज्ञान का पांडित्य भी प्रदर्शित किया।

सांस्कृतिक समन्वय और भावनात्मक एकता :

जैन धर्म ने सांस्कृतिक समन्वय और एकता की भावना को भी बलवती बनाया। यह समन्वय विचार और आचार दोनों क्षेत्रों में देखने को मिलता है। विचार-समन्वय के लिए अनेकान्तदर्शन की देन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भगवान् महावीर ने इस दर्शन की मूल भावना का विश्लेषण करते हुए सांसारिक प्राणियों को बोध दिया—किसी बात को, सिद्धान्त को एक तरफ से मत देखो, एक ही तरह उस पर विचार मत करो। तुम जो कहते हो वह सच होगा, पर दूसरे जो कहते हैं, वह भी सच हो सकता है। इसलिए सुनते ही भड़को मत, वक्ता के दृष्टिकोण से विचार करो।

आज संसार में जो तनाव और द्वन्द्व है वह दूसरों के दृष्टिकोण को न समझने या विपर्यय रूप से समझने के कारण है। अगर अनेकान्तवाद के आलोक में सभी राष्ट्र और व्यक्ति चिन्तन करने लग जायें तो झगड़े की जड़ ही न रहे। संस्कृति के रक्षण और प्रसार में जैनधर्म की यह देन अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

आचार-समन्वय की दिशा में मुनि-धर्म और गृहस्थ-धर्म की व्यवस्था दी है। प्रकृति और निवृत्ति का सामंजस्य किया गया है। ज्ञान और क्रिया का, स्वाध्याय और सामायिक का सन्तुलन इसीलिए आवश्यक माना गया है। मुनिधर्म के लिए महाव्रतों के परिपालन का विधान है। वहाँ सर्वथा-प्रकारेण हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह के त्याग की बात कही गई है। गृहस्थधर्म में अणुव्रतों की व्यवस्था दी गई है, जहाँ यथाशक्य इन आचार नियमों का पालन अभिप्रेत है। प्रतिमाधारी श्रावक वानप्रस्थाश्रमी की तरह माना जा सकता है।

सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से जैनधर्म का मूल्यांकन करते समय वह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि उसने सम्प्रदायवाद, जातिवाद, प्रान्तीयतावाद आदि सभी मतभेदों को त्याग कर राष्ट्र-देवता को बड़ी उदार और आदर की दृष्टि से देखा है। प्रत्येक धर्म के विकसित होने के कुछ विशिष्ट क्षेत्र होते हैं। उन्हीं दायरों में वह धर्म बँधा हुआ रहता है पर जैनधर्म इस दृष्टि से किसी जनपद या प्रान्त विशेष में ही बँधा हुआ नहीं रहा। उसने भारत के किसी एक भाग विशेष को ही अपनी श्रद्धा का, साधना का और चिन्ता का क्षेत्र नहीं बनाया। वह सम्पूर्ण राष्ट्र को अपना मानकर चला। धर्म का प्रचार करने वाले विभिन्न तीर्थंकरों की जन्मभूमि, दीक्षास्थली, तपोभूमि, निर्वाणस्थली आदि अलग-अलग रही है। भगवान महावीर विदेह (उत्तर बिहार) में उत्पन्न हुए तो उनका साधना क्षेत्र व निर्वाण स्थल मगध (दक्षिण बिहार) रहा। तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म तो वाराणसी में हुआ पर उनका निर्वाण स्थल बना सम्मेदशिखर। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव अयोध्या में जन्मे, पर उनकी तपोभूमि रही कैलाश पर्वत और भगवान् अरिष्टनेमि का कर्म व धर्म क्षेत्र रहा गुजरात। भूमिगत सीमा की दृष्टि से जैनधर्म सम्पूर्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राष्ट्र में फैला। देश की चप्पा-चप्पा भूमि इस धर्म की श्रद्धा और शक्ति का आधार बनी। दक्षिणी भारत के श्रवणबेलगोला व कारकल आदि स्थानों पर स्थित बाहुबली के प्रतीक आज भी इस राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक हैं।

जैनधर्म की यह सांस्कृतिक एकता भूमिगत ही नहीं रही। भाषा और साहित्य में भी उसने समन्वय का यह औदार्य प्रकट किया। जैनाचार्यों ने संस्कृत को ही नहीं, अन्य सभी प्रचलित लोक भाषाओं को अपना कर उन्हें समुचित सम्मान दिया। जहाँ-जहाँ भी वे गए, वहाँ-वहाँ की भाषाओं को चाहे वे आर्य परिवार की हों, चाहे द्राविड़ परिवार की—अपने उपदेश और साहित्य का माध्यम बनाया। इसी उदार प्रवृत्ति के कारण मध्ययुगीन विभिन्न जनपदीय भाषाओं के मूल रूप सुरक्षित रह सके हैं। आज जब भाषा के नाम पर विवाद और मतभेद हैं, तब ऐसे समय में जैनधर्म की यह उदार दृष्टि अभिनन्दनीय ही नहीं, अनुकरणीय भी है।

साहित्यिक समन्वय की दृष्टि से तीर्थंकरों के अतिरिक्त राम और कृष्ण जैसे लोकप्रिय चरित्र नायकों को जैन साहित्यकारों ने सम्मान का स्थान दिया। ये चरित्र जैनियों के अपने बन कर आये हैं। यही नहीं, जो पात्र अन्यत्र घृणित और बीभत्स दृष्टि से विचित्र किये गये हैं, वे भी यहाँ उचित सम्मान के अधिकारी बने हैं। इसका कारण शायद यह रहा कि जैन साहित्यकार अनार्य भावनाओं को किसी प्रकार की ठेस नहीं पहुँचाना चाहते थे। यही कारण है कि वासुदेव के शत्रुओं को भी प्रति-वासुदेव का उच्च पद दिया गया है। नाग, यक्ष आदि को भी अनार्य न मानकर तीर्थंकरों का रक्षक माना है और उन्हें देवालयों में स्थान दिया है। कथा-प्रबन्धों में जो विभिन्न छन्द और राग-रागनियाँ प्रयुक्त हुई हैं उनकी तर्जे वैष्णव साहित्य के सामंजस्य को सूचित करती हैं। कई जैनेतर संस्कृत और डिंगल ग्रंथों की लोक-भाषाओं में टीकाएँ लिख कर भी जैन विद्वानों ने इस सांस्कृतिक विनिमय को प्रोत्साहन दिया है।

जैनधर्म अपनी समन्वय भावना के कारण ही सगुण और निर्गुण भक्ति के झगड़े में नहीं पड़ा। गोस्वामी तुलसीदास के समय इन दोनों भक्ति धाराओं में जो समन्वय दिखाई पड़ता है उसके बीज जैन भक्तिकाव्य में आरम्भ से मिलते हैं। जैन दर्शन में निराकार आत्मा और वीतराग साकार भगवान के स्वरूप में एकता के दर्शन होते हैं। पंचपरमेष्ठी महामंत्र (णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं आदि) में सगुण और निर्गुण भक्ति का कितना सुन्दर मेल बिठाया है। अर्हन्त साकार परमात्मा कहलाते हैं। उनके शरीर होता है वे दिखाई देते हैं। सिद्ध निराकार हैं, उनके कोई शरीर नहीं होता, उन्हें हम देख नहीं सकते। एक ही मंगलाचरण में इस प्रकार का समभाव कम देखने को मिलता है।

जैन कवियों ने काव्य-रूपों के क्षेत्र में भी कई नये प्रयोग किये। उसे संकीर्ण परिधि से बाहर निकाल कर व्यापकता का मुक्त क्षेत्र दिया। आचार्यों द्वारा प्रतिपादित प्रबन्ध-मुक्तक की चली आती हुई काव्य-परम्परा को इन कवियों ने विभिन्न रूपों में विकसित कर काव्यशास्त्रीय जगत में एक क्रांति-सी मचा दी। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रबन्ध और मुक्तक के बीच काव्य-रूपों में कई नये स्तर इन कवियों ने निर्मित किये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन कवियों ने नवीन काव्य-रूपों के निर्माण के साथ-साथ प्रचलित काव्य-रूपों को नई भाव-भूमि और मौलिक अर्थवत्ता भी दी। इन सब में उनकी व्यापक, उदार दृष्टि ही काम करती रही। उदाहरण के लिए वेलि, बारहमासा, विवाहलो रासो, चौपाई, संधि आदि काव्य रूपों के स्वरूप का अध्ययन किया जा सकता है। वेलि संज्ञक काव्य डिंगल शैली में सामान्यतः वेलियो छन्द में ही लिखा गया है पर जैन कवियों ने 'बेलि' काव्य को छन्द विशेष की सीमा से बाहर निकाल कर वस्तु और शिल्प दोनों दृष्टि से व्यापकता प्रदान की। 'बारहमासा' काव्य ऋतु काव्य रहा है जिसमें नायिका एक-एक माह के क्रम से अपना विरह-प्रकृति के विभिन्न उपादानों के माध्यम से व्यक्त करती है। जैन कवियों ने 'बारहमासा' की इस विरह-निवेदन-प्रणाली को आध्यात्मिक रूप देकर इसे शृंगार क्षेत्र से बाहर निकालकर भक्ति और वैराग्य के क्षेत्र तक आगे बढ़ाया। 'विवाहलों' संज्ञक काव्य में सामान्यतः नायक-नायिका के विवाह का वर्णन रहता है, जिसे ब्याहलो भी कहा जाता है। जैन कवियों ने इसमें नायक का किसी स्त्री से परिणय न दिखा कर संयम और दीक्षा कुमारी जैसी अमूर्त भावनाओं को परिणय के बंधन में बाँधा गया। रासो, संधि और चौपाई जैसे काव्य रूपों को भी इसी प्रकार नया भाव-बोध दिया। 'रासो' यहाँ केवल युद्ध परक वीर काव्य का व्यंजक न रह कर प्रेम परक गेय काव्य का प्रतीक बन गया। 'संधि' शब्द अपभ्रंश महाकाव्य के सर्ग का वाचक न रह कर विशिष्ट काव्य विधा का ही प्रतीक बन गया। 'चौपाई संज्ञक काव्य चौपाई छन्द में ही न बँधा रहा, वह जीवन की व्यापक चित्रण क्षमता का प्रतीक बनकर छन्द की रूढ कारा से मुक्त हो गया।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि जैन कवियों ने एक ओर काव्य रूपों की परम्परा के धरातल को व्यापकता दी तो दूसरी ओर उसको बहिरंग से अन्तरंग की ओर तथा स्थूल से सूक्ष्म की ओर भी खींचा।

यहाँ यह भी स्मरणीय है जैन कवियों ने केवल पद्य के क्षेत्र में ही नवीन काव्य-रूप नहीं खड़े किये वरन् गद्य के क्षेत्र में भी कई नवीन काव्य-रूपों गुर्वावली, पट्टावली, उत्पत्तिग्रंथ, दफतर बही, ऐतिहासिक टिप्पण ग्रथ प्रशस्ति, वचनिका-दवावैत-सिलेका, बालावबोध आदि की सृष्टि की। यह सृष्टि इसलिए और भी महत्वपूर्ण है क्योंकि उसके द्वारा हिन्दी गद्य का प्राचीन ऐतिहासिक विकास स्पष्ट होता है। हिन्दी के प्राचीन ऐतिहासिक और कलात्मक गद्य में इन काव्य रूपों की देन महत्वपूर्ण है।

जैनधर्म का लोक-संग्राहक रूप :

धर्म का आविर्भाव जब कभी हुआ विषमता में समता, अव्यवस्था में व्यवस्था और अपूर्णता में सम्पूर्णता स्थापित करने के लिए ही हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि इसके मूल में वैयक्तिक अभिक्रम अवश्य रहा पर उसका लक्ष्य समष्टिमूलक हित ही रहा है, उसका चिन्तन लोकहित की भूमिका पर ही अग्रसर हुआ है।

पर सामान्यतः जब कभी जैनधर्म के लोक संग्राहक रूप की चर्चा चलती है तब लोग चुप्पी साध लेते हैं। इसका कारण मेरी समझ में शायद यह रहा है कि जैनदर्शन में वैयक्तिक मोक्ष की बात कही गई है। सामूहिक निर्वाण की बात नहीं। पर जब हम जैनदर्शन का सम्पूर्ण सन्दर्भों में अध्ययन करते हैं तो उसके लोक-संग्राहक रूप का मूल उपादान प्राप्त हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोकसंग्राहक रूप का सबसे बड़ा प्रमाण है लोक-नायकों के जीवन-क्रम की पवित्रता, उनके कार्य-व्यापारों की परिधि और जीवन-लक्ष्य की व्यापकता। जैनधर्म के प्राचीन ग्रंथों में ऐसे कई उल्लेख आते हैं कि राजा श्रावक धर्म अंगीकार कर, अपनी सीमाओं में रहते हुए, लोक-कल्याणकारी प्रवृत्तियों का संचालन एवं प्रसारण करता है। पर काल-प्रवाह के साथ उसका चिन्तन बढ़ता चलता है और वह देश-विरति श्रावक से सर्वविरति श्रमण बन जाता है। सांसारिक मायामोह, पारिवारिक प्रपंच, देह-आसक्ति आदि से विरत होकर वह सच्चा साधु, तपस्वी और लोक-सेवक बन जाता है। इस रूप या स्थिति को अपनाते ही उसकी दृष्टि अत्यन्त व्यापक और उसका हृदय अत्यन्त उदार बन जाता है। लोक-कल्याण में व्यवधान पैदा करने वाले सारे तत्व अब पीछे छूट जाते हैं और वह जिस साधना पथ पर बढ़ता है, उसमें न किसी के प्रति राग है न द्वेष। वह सच्चे अर्थों में श्रमण है।

श्रमण के लिए शमन, समन, समण आदि शब्दों का भी प्रयोग होता है। उनके मूल में भी लोक-संग्राहक वृत्ति काम करती रही है। लोक-संग्राहक वृत्ति का धारक सामान्य पुरुष हो ही नहीं सकता। उसे अपनी साधना से विशिष्ट गुणों को प्राप्त करना पड़ता है। क्रोधादि कषायों का शमन करना पड़ता है, पाँच इन्द्रियों और मन को वशवर्ती बनाना पड़ता है, शत्रु-मित्र तथा स्वजन-परिजन की भेद-भावना को दूर हटाकर सबमें समान मन को नियोजित करना पड़ता है। समस्त प्राणियों के प्रति समभाव की धारणा करनी पड़ती है। तभी उसमें सच्चे श्रमणभाव का रूप उभरने लगता है। वह विशिष्ट साधना के कारण तीर्थंकर तक बन जाता है। ये तीर्थंकर तो लोकोपदेशक ही होते हैं।

इस महान साधना को जो साध लेता है, वह श्रमण बारह उपमाओं से उपमित किया गया है—

उरग गिरि जलण सागर
णहतल तरुगण समायं जो होइ।
भमर मिय धरणि जलरुह,
रवि पवण समोय सो समणो॥

अर्थात् जो सर्प, पर्वत, अग्नि, सागर, आकाश, वृक्षपंक्ति, भ्रमर, मृग, पृथ्वी, कमल, सूर्य और पवन के समान होता है, वह श्रमण कहलाता है।

ये सब उपमायें साभिप्राय दी गई हैं। सर्प की भाँति ये साधु भी अपना कोई घर (बिल) नहीं बनाते। पर्वत की भाँति ये परीषहों और उपसर्गों की आँधी से डोलायमान नहीं होते। अग्नि की भाँति ज्ञान रूपी ईंधन से ये तृप्त नहीं होते। समुद्र की भाँति अथाह ज्ञान को प्राप्त कर भी ये तीर्थंकर की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते। आकाश की भाँति ये स्वाश्रयी, स्वावलम्बी होते हैं, किसी के अवलम्बन पर नहीं टिकते। वृक्ष की भाँति समभाव पूर्वक दुख-सुख के तापातप को सहन करते हैं। भ्रमर की भाँति किसी को बिना पीड़ा पहुँचाये शरीर-रक्षण के लिए आहार ग्रहण करते हैं। मृग की भाँति पापकारी प्रवृत्तियों के सिंह से दूर रहते हैं। पृथ्वी की भाँति शीत, ताप, छेदन, भेदन आदि कष्टों को समभाव पूर्वक सहन करते हैं, कमल की भाँति वासना के कीचड़ और वैभव के जल से अलिप्त रहते हैं। सूर्य की भाँति स्वसाधना एवं लोकोपदेशना के द्वारा अज्ञानान्धकार को नष्ट करते हैं। पवन की भाँति सर्वत्र अप्रतिबद्ध रूप से विचरण करते हैं। ऐसे श्रमणों का वैयक्तिक स्वार्थ हो ही क्या सकता है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये श्रमण पूर्ण अहिंसक होते हैं। षट्काय (पृथ्वी-काय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पति काय और त्रसकाय) जीवों की रक्षा करते हैं। न किसी को मारते हैं, न किसी को मारने की प्रेरणा देते हैं और न जो प्राणियों का वध करते हैं उनकी अनुमोदना करते हैं। इनका यह अहिंसा प्रेम अत्यन्त सूक्ष्म और गम्भीर होता है।

ये अहिंसा के साथ-साथ सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के भी उपासक होते हैं। किसी की वस्तु बिना पूछे नहीं उठाते। कामिनी और कंचन के सर्वथा त्यागी होते हैं। आवश्यकता से भी कम वस्तुओं की सेवना करते हैं। संग्रह करना तो इन्होंने सीखा ही नहीं। ये मनसा, वाचा, कर्मणा किसी का वध नहीं करते, हथियार उठाकर किसी अत्याचारी-अन्यायी राजा का नाश नहीं करते, लेकिन इससे उनके लोकसंग्रही रूप में कोई कमी नहीं आती। भावना की दृष्टि से तो उसमें और वैशिष्ट्य आता है। ये श्रमण पापियों को नष्ट कर उनको मौत के घाट नहीं उतारते वरन् उन्हें आत्मबोध और उपदेश देकर सही मार्ग पर लाते हैं। ये पापी को मारने में नहीं, उसे सुधारने में विश्वास करते हैं। यही कारण है कि महावीर ने विषदृष्टि सर्प चण्डकौशिक को मारा नहीं वरन् अपने प्राणों को खतरे में डाल कर, उसे उसके आत्मस्वरूप से परिचित कराया। बस फिर क्या था ? वह विष से अमृत बन गया। लोक कल्याण की यह प्रक्रिया अत्यन्त सूक्ष्म और गहरी है।

इनका लोक-संग्राहक रूप मानव सम्प्रदाय तक ही सीमित नहीं है। ये मानव के हित के लिए अन्य प्राणियों का बलिदान करना व्यर्थ ही नहीं, धर्म के विरुद्ध समझते हैं। इनकी यह लोक संग्रह की भावना इसीलिए जनतन्त्र से आगे बढ़कर प्राणतन्त्र तक पहुँची है। यदि अयतना से किसी जीव का वध हो जाता है या प्रमादवश किसी को कष्ट पहुँचता है तो ये उन पापों से दूर हटने के लिए प्रातः सायं प्रतिक्रमण (प्रायश्चित) करते हैं। ये नंगे पैर पैदल चलते हैं। गाँव-गाँव और नगर-नगर में विचरण कर सामाजिक चेतना और सुषुप्त पुरुषार्थ को जागृत करते हैं। चातुर्मास के अलावा किसी भी स्थान पर नियत वास नहीं करते। अपने पास केवल इतनी वस्तुएँ रखते हैं जिन्हें ये अपने आप उठाकर भ्रमण कर सकें। भोजन के लिए गृहस्थों के यहाँ से भिक्षा लाते हैं। भिक्षा भी जितनी आवश्यकता होती है उतनी ही। दूसरे समय के लिए भोजन का संचय ये नहीं करते। रात्रि में न पानी पीते हैं न कुछ खाते हैं।

इनकी दैनिकचर्या भी बड़ी पवित्र होती है। दिन-रात ये स्वाध्याय मनन-चिन्तन-लेखन और प्रवचन आदि में लगे रहते हैं। सामान्यतः ये प्रतिदिन संसार के प्राणियों को धर्म बोध देकर कल्याण के मार्ग पर अग्रसर करते हैं। इनका समूचा जीवन लोक कल्याण में ही लगा रहता है। इस लोक-सेवा के लिए ये किसी से कुछ नहीं लेते।

श्रमण धर्म की यह आचार निष्ठ दैनन्दिनचर्या इस बात का प्रबल प्रमाण है कि वे श्रमण सच्चे अर्थों में लोक-रक्षक और लोकसेवी हैं। यदि आपद्काल में अपनी मर्यादाओं से तनिक भी इधर-उधर होना पड़ता है तो उसके लिए भी ये दण्ड लेते हैं, व्रत-प्रत्याख्यान करते हैं। इतना ही नहीं, जब कभी अपनी साधना में कोई बाधा आती है तो उसकी निवृत्ति के लिए परीषह और उपसर्ग आदि की सेवा करते हैं। मैं नहीं कह सकता इससे अधिक आचरण की पवित्रता, जीवन की निर्मलता और लक्ष्य की सार्वजनता और किस लोकसंग्राहक की होगी ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण धर्म के लोक संग्राहक रूप पर प्रश्नवाचक चिन्ह इसलिए लगा हुआ है कि उसमें साधना का फल मुक्ति माना जाता है—ऐसी मुक्ति जो वैयक्ति उत्कर्ष की चरम सीमा है। बौद्ध धर्म का निर्वाण भी वैयक्तिक है। बाद में चलकर बौद्ध धर्म की एक शाखा महायान ने सामूहिक निर्वाण की चर्चा की। मेरी मान्यता है कि जैन-दर्शन की वैयक्तिक मुक्ति की कल्पना सामाजिकता की विरोधिनी नहीं है। क्योंकि श्रमण धर्म ने मुक्ति पर किसी का एकाधिकार नहीं माना है। जो अपने आत्म-गुणों का चरम विकास कर सकता है, वह इस परम पद को भी प्राप्त कर सकता है और आत्मगुणों के विकास के लिए समान अवसर दिलाने के लिए जैनधर्म हमेशा संघर्ष शील रहा है।

भगवान महावीर ने ईश्वर के रूप को एकाधिकार के क्षत्र से बाहर निकाल कर समस्त प्राणियों की आत्मा में उतारा। आवश्यकता इस बात की है कि प्राणी साधना पथ-पर बढ़ सके। साधना के पथ पर जो बन्धन और बाधा थी, उसे महावीर ने तोड़ गिराया। जिस परम पद की प्राप्ति के लिए वे साधना कर रहे थे, जिस स्थान को उन्होंने अमर सुख का घर और अनन्त आनन्द का आवास माना, उसके द्वार सबके लिए खोल दिये। द्वार ही नहीं खोले, वहाँ तक पहुँचने का रास्ता भी बतलाया।

जैन दर्शन में मानव-शरीर और देव शरीर के सम्बन्ध में जो चिन्तन चला है, उससे भी लोक-संग्राहक वृत्ति का पता चलता है। परम शक्ति और परमपद की प्राप्ति के लिए साधना और पुरुषार्थ की जरूरत पड़ती है। यह पुरुषार्थ कर्तव्य की पुकार और बलिदान की भावना मानव को ही प्राप्त है, देव को नहीं। देव-शरीर में वैभव विलास को भोगने की शक्ति तो है पर नये पुण्यों के संचय की ताकत नहीं। देवता जीवन-साधना के पथ पर बढ़ नहीं सकते, केवल उसकी ऊँचाई को स्पर्श कर सकते हैं। कर्मक्षेत्र में बढ़ने की शक्ति तो मानव के पास ही है। इसीलिए जैनधर्म में भाग्यवाद को स्थान नहीं है। वहाँ कर्म की ही प्रधानता है। वैदिक धर्म में जो स्थान स्तुति-प्रार्थना और उपासना को दिया गया है वही स्थान श्रमण धर्म में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र को मिला है।

समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि श्रमण धर्म का लोकसंग्राहक रूप स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म अधिक है, बाह्य की अपेक्षा, आन्तरिक अधिक है। उसमें देवता बनने के लिए जितनी तड़प नहीं, उतनी तड़प संसार को कषाय आदि पाप कर्मों से मुक्त कराने की है। इस मुक्ति के लिए वैयक्तिक अभिक्रम की उपेक्षा नहीं की जा सकती जो जैन साधना के लोक संग्राहक रूप की नींव है।

जैनधर्म-जीवन-सम्पूर्णता का हिमायती :

सामान्यतः यह कहा जाता है कि जैनधर्म ने संसार को दुखमूलक बताकर निराशा की भावना फैलाई है, जीवन में संयम और विराग की अधिकता पर बल देकर उसकी अनुराग भावना और कला प्रेम को कुंठित किया। पर यह कथन साधार नहीं है, भ्रांतिमूलक है। यह ठीक है कि जैनधर्म ने संसार को दुखमूलक माना, पर किसलिए ? अखण्ड आनन्द की प्राप्ति के लिए, शाश्वत सुख की उपलब्धि के लिए। यदि जैनधर्म संसार को दुखपूर्ण मान कर ही रुक जाता, सुख प्राप्ति की खोज नहीं करता, उसके लिए साधना मार्ग की व्यवस्था नहीं देता तो हम उसे निराशावादी कह सकते थे, पर उसमें तो मानव को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महात्मा बनने की, आत्मा को परमात्मा बनाने की आस्था का बीज छिपा हुआ है। देववाद के नाम पर अपने को अक्षम और निर्बल समझी जाने वाली जनता को किसने आत्म-जागृति का सन्देश दिया ? किसने उसके हृदय में छिपे हुए पुरुषार्थ को जगाया ? किसने उसे अपने भाग्य का विधाता बनाया ? जैनधर्म की यह विचारधारा युगों बाद आज भी बुद्धिजीवियों की धरोहर बन रही है, संस्कृति को वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान कर रही है।

यह कहना भी कि जैनधर्म निरा निवृत्तिमूलक है, ठीक नहीं है। जीवन के विधान पक्ष को भी उसने महत्व दिया है। इस धर्म के उपदेशक तीर्थंकर लौकिक अलौकिक वैभव के प्रतीक हैं। देहिक दृष्टि से वे अनन्त बल, अनन्त सौन्दर्य और अनन्त पराक्रम के धनी होते हैं। इन्द्रादि मिलकर उनके पंच कल्याणक महोत्सवों का आयोजन करते हैं। उपदेश देने का उनका स्थान (समवसरण) कलाकृतियों से अलंकृत होता है। जैनधर्म ने जो निवृत्तिमूलक बातें कही हैं, वे केवल उच्छृंखलता और असंयम को रोकने के लिए ही हैं।

जैन धर्म की कलात्मक देन अपने आप में महत्वपूर्ण और अलग से अध्ययन की अपेक्षा रखती है। वास्तुकला के क्षेत्र में विशालकाय कलात्मक मन्दिर, मेरुपर्वत की रचना, नन्दीश्वर द्वीप व समवसरण की रचना, मानस्तम्भ, चैत्य, स्तूप आदि उल्लेखनीय हैं। मूर्तिकला में विभिन्न तीर्थंकरों की मूर्तियों को देखा जा सकता है। चित्रकला में भित्तिचित्र, ताड़पत्रीय चित्र, काष्ठचित्र, लिपिचित्र, वस्त्र पर चित्र आश्चर्य में डालने वाले हैं। इस प्रकार निवृत्ति और प्रवृत्ति का समन्वय कर जैन धर्म ने संस्कृति को लचीला बनाया है। उसकी कठोरता को कला की बाँह दी है तो उसकी कोमलता को संयम का आवरण। इसी लिए वह आज भी जीती-जागती है।

आधुनिक भारत के नवनिर्माण में योग :

आधुनिक भारत के नवनिर्माण की सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और आर्थिक प्रवृत्तियों में जैन धर्मावलम्बियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अणुव्रत आन्दोलन इसी चेतना का प्रतीक है। अधिकांश सम्पन्न जैन श्रावक अपनी आय का एक निश्चित भाग लोकोपकारी प्रवृत्तियों में व्यय करने के व्रती रहे हैं। जीवदया, पशुबलि निषेध, स्वधर्मी वात्सल्यफंड, विधवाश्रम, वृद्धाश्रम, जैसी अनेक प्रवृत्तियों के माध्यम से असहाय लोगों को सहायता मिली है। समाज में निम्न और घृणित समझे जाने वाले खटीक जाति के भाइयों में प्रचलित कुव्यसनों को मिटा कर उन्हें सात्विक जीवन जीने की प्रेरणा देने वाला धर्मपाल प्रवृत्ति का रचनात्मक कार्यक्रम अहिंसक समाज-रचना की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। लौकिक शिक्षण के साथ-साथ नैतिक शिक्षण के लिए देश के विभिन्न क्षेत्रों में कई जैन शिक्षण संस्थायें, स्वाध्याय-शिविर और छात्रावास कार्यरत हैं। निर्धन और मेधावी छात्रों को अपने शिक्षण में सहायता पहुँचाने के लिए व्यक्तिगत और सामाजिक स्तर पर बने कई धार्मिक और पारमार्थिक ट्रस्ट हैं, जो छात्रवृत्तियाँ और ऋण देते हैं।

जन स्वास्थ्य के सुधार की दिशा में भी जैनियों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में कई अस्पताल और औषधालय खोले गये हैं, जहाँ रोगियों को निःशुल्क तथा रियायती दरों पर चिकित्सा सुविधा प्रदान की जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन साधु और साध्वियाँ वर्षाऋतु के चार महिनों में पदयात्रा नहीं करते। वे एक ही स्थान पर ठहरते हैं जिसे चातुर्मास करना कहते हैं। इस काल में जैन लोग तप, त्याग, प्रत्याख्यान, संघ-यात्रा, तीर्थ-यात्रा, मुनि-दर्शन, उपवास, आयम्बिल, मासखमण, संवत्सरी, क्षमापर्व जैसे विविध उपासना-प्रकारों द्वारा आध्यात्मिक जागृति के विविध कार्यक्रम बनाते हैं। इससे व्यक्तिगत जीवन निर्मल, स्वस्थ और उदार बनता है, तथा सामाजिक जीवन में बंधुत्व, मैत्री, वात्सल्य जैसे भावों की वृद्धि होती है।

अधिकांश जैनधर्मावलम्बी कृषि, वाणिज्य और उद्योग पर निर्भर हैं। देश के विभिन्न क्षेत्रों में ये फैले हुए हैं। बंगाल, बिहार, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, आदि प्रदेशों में इनके बड़े-बड़े उद्योग-प्रतिष्ठान हैं। अपने आर्थिक संगठनों द्वारा इन्होंने राष्ट्रीय उत्पादन तो बढ़ाया ही है, देश के लिए विदेशी मुद्रा अर्जन करने में भी इनकी विशेष भूमिका रही है। जैन संस्कारों के कारण मर्यादा से अधिक आय का उपयोग वे सार्वजनिक स्तर के कल्याण कार्यों में करते रहे हैं।

राजनीतिक चेतना के विकास में भी जैनियों का सक्रिय योग रहा है। भामाशाह की परम्परा को निभाते हुए कइयों ने राष्ट्रीय रक्षाकोष में पुष्कल राशि समर्पित की है। स्वतन्त्रता से पूर्व देशी रियासतों में कई जैन श्रावक राज्यों के दीवान और सेनापति जैसे महत्वपूर्ण पदों पर कार्य करते रहे हैं। स्वतन्त्रता संग्राम में क्षेत्रीय आन्दोलनों का नेतृत्व भी उन्होंने संभाला है। अहिंसा, सत्याग्रह, भूमिदान, सम्पत्तिदान, भूमि सीमाबन्दी, आयकर प्रणाली, धर्म निरपेक्षता, जैसे सिद्धान्तों और कार्यक्रमों में जैन-दर्शन की भावधारा न्यूनाधिक रूप से प्रेरक कारण रही है।

प्राचीन साहित्य के संरक्षक के रूप में जैन धर्म की विशेष भूमिका रही है। जैन साधुओं ने न केवल मौलिक साहित्य की सर्जना की वरन् जीर्णशीर्ण दुर्लभ ग्रन्थों का प्रतिलेखन कर उनकी रक्षा की ओर स्थान-स्थान पर ग्रन्थ भंडारों की स्थापना कर, इस अमूल्य निधि को सुरक्षित रखा। राजस्थान और गुजरात के ज्ञान भंडार इस दृष्टि से राष्ट्र की अमूल्य निधि हैं। महत्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्य भी जैन शोध संस्थानों ने अब अपने हाथ में लिया है। जैन पत्र-पत्रिकाओं द्वारा भी वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, और राष्ट्रीय जीवन को स्वस्थ और सदाचार युक्त बनाने की दिशा में बड़ी प्रेरणा और शक्ति मिलती रही है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि जैन धर्म की दृष्टि राष्ट्र के सर्वांगीण विकास पर रही है। उसने मानव-जीवन की सफलता को ही मुख्य नहीं माना, उसका बल रहा उसकी सार्थकता और आत्म-शुद्धि पर।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org